धूप क्यो छेड़ती है



राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

कविता प्रकाशन, बीकानेर

प्रकाशक कविता प्रकाशन
तेलीवाड़ा बीकानेर

संस्करण प्रथम 1986

मूल्य तीस रुपये मात्र

आवरण हरिप्रकाश त्यागी

मुद्रक साधना प्रिंटर्स बीकानेर

DHOOP KYON CHHEDTI HAI (Po try) by Om Purohit KAGAD
Rs.30/

माँ

श्रीमती कमलादेवी पुरोहित

एवम्

पिता

श्री रिद्धकरण पुरोहित

के

चरणों मे

वहाने

मेरे विचार मे कविता लिखना घडा बनाने, गोबर थापने, चूल्हा जलाने, धाकनी मे हवा भरने, लोहा कूटने, रिक्शा चलाने, बोझा ढोने या इजन में कोयला झोकने से न तो कठिन है और न पवित्र। कवि अपनी कविता मे चाहे जितने काव्य गुणो को भर दे, वह मजदूर की तरह किसी का पेट नही भर सकता। मजदूर शोषण को समर्पित है। उसके पास अपने शापक को सुनाने के लिए फटे कठ और दिखाने के लिए ढीली नाडियो वाली तनी मुट्ठियो के अतिरिक्त क्या है? कवि तलया है। उसके पास कलम का डक है। वस्तुत 'लोकरचित दबाव" उसके रचनाकार के समक्ष नही ठहरते। ऐडी से चोटी तक पसीने मे भीगे मजदूर का श्रम कविकम से बहुत ऊपर तथा श्रेष्ठ है——मैं तो सौ जन्म तक इस का मान दूगा।

कविता अपने समकालीन जीवन स्तर, स्थिति तथा लोकाचरण का प्रतिबिम्ब होती है। ऐसे मे कवि का दायित्व एक न्यायाधीश और इतिहासकार से कम नही होता, क्योकि तीनो का कर्म साक्षात साक्षी और यथार्थ पर आधारित होता है। समकालीन यथार्थ का रूपाकन न करने वाली और विशिष्ट कलात्मक आशयो का निर्वाह करने वाली कविता सूनी गोद वाली रूपवती बाझ औरत के समान होती है। कजरा गजरा भौहा, बाहा, कमर या रेशमी बालो मे अटकी कविता की तो इस समय कतई जरूरत नही है। ऐसी कविताओ को कविता कहना कविता का मजाक करना है।

कविता की सत्ता कविता म ही निहित है कविता से केवल और केवल कला की अपेक्षा करना उसके अतर से, परिवेश से और मूल

सवेदन से विलग कर देखना है। रोटी चाहे किसी आटे की हो किसी भी चूल्ह पर पकी हो या किसी भी बतन मे पडी हो—–—–उस मे भूख शात करने की क्षमता होनी चाहिए। यही रोटी का विशिष्ट लक्षण है। ठीक यही कविता पर लागू होता है।

कविता की भाषा जन साधारण के बोल चाल की हो तो उसमे अधिक स्वभाविकना आ जाती है। रूढ भाषा का दबाव कविता का तिलम्म के शिकजे म कस लेता है। इस से भावो एवम् सवेदन की सम्प्रेषणीयता बहुत पीछे छूट जाती है या य कहिये—मर जाती है।

परम्परागत शब्दा का तोडकर नए स्वरूप देने का प्रयास भाषा के साथ बलात्कार से कम नही है। एक भाषा/आचलिक भाषा का शब्द दूसरी भाषा मे मेहमान के रूप म चला जाए तो यह भाषागत एकता के लिए सुखद ही है। इस एकता मे राष्ट्रीय तथा अ तर्राष्ट्रीय एकता की कल्पना बेमानी नही है।

मरा यह कविता सकलन मेर लेखन जीवन यानी डेढ दशक के अ तिम दौर मे रची गई कविताओ का तलपट है। इस सग्रह की कविताए मेरी निजी भाषा मे हैं। मैंने अपने मूल सवेदन की अभि यक्ति के समक्ष कलम को भाषा, शिल्प एवम् अ य कलात्मक विशेषताओ का गुलाम नहीं बनने दिया। मैं अपने प्रयासो मे कहा तक सफल हू। यह तो सुधी पाठक ही बता सकेंगे। उनके मूल्याकन से जहा मुझे मरे कमजोर पक्ष का ज्ञान होगा, वही रचना का मेरा माग प्रशस्त होगा।

अ त मे—

इस पुस्तक को प्रकाश मे लाने मे श्री हरीश भादानी, श्री जनकराज पारीक, श्री मोहन आलोक, श्री महेश हप व श्री सुनील हप ने अपनी अमूल्य राय एवम् जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनका आभारी हू। साथ ही भाजे राहुल हप चचेरी बहिन सरोज पुरोहित एवम् पवन पुरोहित का विशेष आभारी हू जि होने पाडुलिपि बनाने म मेरी रात दिन सहायता की।

5 2 1985
24 दुर्गा कॉलोनी
हनुमानगढ़ सगम–335512
जिला श्रीगगानगर (राजस्थान)

—ओम पुरोहित "कागद"

उपोद्घात

मैं इस कविता पुस्तक का पहला पाठक हूँ। इससे पूव मैं श्री "कागद" के रचनाकार से कभी परिचित नही रहा, इसे मैं अपनी अल्पज्ञता ही मानता हूँ। पहले वाचन मे मुझे एक खास प्रकार का कसैलापन हाथ लगा यह कही उम्र के कारण तो नही, दूसरा वाचन धीरज से किया और खास प्रकार के कसलेपन के मूल कारण तक पहुचने का यत्न किया।

इस यत्न म "सूरज पचा लेता हूँ" 'धूप क्यो छेडती है मुझे" और 'मेरा आँगन' कविताओ को एक अथ मे देखता हुआ मैं रचनाकार श्री "कागद" के व्यक्तित्व से परिचित होता हूँ। इस परिचय मे मुझे विश्वास हो जाता है कि रचनाकार को अपने व्यक्तित्व और परिवेश का पूरा पूरा अहसास है। वह अपने परिवेश का पयवेक्षक नही है उसके एक एक क्षण का भोक्ता है। भोक्ता को जो दु ख सुख होते हैं—वे इस व्यक्ति के भी है जिनसे वह तिलमिलाया है, यह कि 'हँसने' का बहाना भी किया है। उसका यह हँसने का बहाना भी सवा सेर दु ख जैसा है। ऐसे परिवेश मे जीने की स्थिति का उगलाव की हद पार करना ही रचना के धरातल पर आ टिकना है।

रचना के धरातल पर आकर ओमजी ने अपने और अपने परिवेश को अपनी दहलीज' को छूकर लौट गई सडक के दानो ओर के व्यापक परिवेश से जोडने का यत्न किया है। रचना के यत्न की इस प्रक्रिया मे उनका खास कसैलापन फैलता गया है, उन्होन इसे नही फैलाया है। वह सडक पर सवत्र है, इस रचनाकार ने तो इस अपने शब्द भर दिए हैं।

रचना करने का अथ अपने दुखो और तनावो से हकलाना नही है अपने निकट दूर के यथाथ को पहचानना—पहचानते रहना है लगातार

पहचानते रहने के परिणाम-रचना के माध्यम से अपने यथार्थ से अपने सरोकार का व्यापक बनाते रहना है। रचना के माध्यम से अपने इस सरोकार को बारीक और व्यापक बनाने का सबसे बडा सुख यह रचनाकार के व्यक्ति का अपने दु ख और तनाव सारे जहा से भारी' नही लगता। वह अपने अकेले हाने का अहसास रखता हुआ भी, अपनी पूरी सम्पूणता मे अपने आप को अपने परिवेश म ही पाता है। वसा ही पाता है। मेरे सोच मे इन कविताओ का एक सुखद पहलू यह है कि यहा मिलता कसैलापन एक अकेले की चिता त घुटन नही है। निम्न पक्तियो के सहारे आमजी अपने मैं का और अपन निजी परिवेश का अतिक्रमण कर बडे यथाथ का हिस्सा बने हैं- इन पक्तियो म आया मैं' और वह एक 'हम' का अथ देते है—

- पत्थरा के शहर म— 'पत्थर को आख के लिए मारा गया/बस इतना सा अपवाद है/वरना यहा पूरा समाजवाद है '
- रेत का जाया मैं— 'न मुझे हम बनने दिया / और न मैं रहन दिया '
- आ ऋतुराज— बाप की खाली अटी पर आसू टळकाती '
- मैं देशद्रोही नही हूँ— भल ही मैं राष्ट्रीय ध्वज पहन लेता हूँ/ क्योकि मैं नगा हूँ / राष्ट्रीय गीत पर खडा नही होता क्याकि "
- मेरा गाव— 'बिजली खम्भा के बजाय आकाशमाग से आती है "
- मेरा शहर—' भूख का भाई और भूखे का दुश्मन मेरा शहर , मुर्गे की टाग पर बिक जाता है मेरा शहर , गीता पर हाथ धर कर हकलाता है लेकिन स्काच पीकर हर गुत्थी खोल जाता है मेरा शहर

इस तरह की अनेक पक्तिया हैं जो गाव और शहर के जीवन को रूपायित करती हैं। ये रूपाकन केवल बाहर को ही, इस बाहर म पाठक के हान को भी दर्शाते हैं कही कही दर्शाव अधिक खुला और अधिक तीखा भी हा जाता है-आचलिक शब्दा क कारण। परिवेश को निपट भाषाओ के साथ [illegible] रचना और रचनाकार दोनो के लिए सुखद है-इस तरह के [illegible] रचना कवल [illegible] नही अपन पूर आवेग क साथ, सम्प्रेषित होती है।

रचनात्मक धरातल, सवेदन, परिवेश को देख जीकर निमम होकर व्यक्त करने का अभ्यास और भाषा आदि आदि उपलब्धियो को स्वीकारते हुए इन कविताओ के वाचन के बाद एक समग्र अथ लेन के अपने प्रयत्न म मुझे लगा है कि ओमजी का आवेग चल नही, लगभग दौड रहा है। दौडते रहने मे कही आधा अनुभव पीछे छूट गया है तो कही फुटपाथिया शरीर के हाथो म मलमल जस शब्द का टुकडा आ फसा है। इस तरह के रूपो से गुजरते हुए पाठक की लय टूटती है– इसका एक अथ यह कि कही न कही कविता की भी लय टूटी है।

जहा तक मै जानता हूँ यह किताब उनकी रचना-यात्रा का पहला तलपट है, इस कारण इस तरह का लय भग असहज भी नही पर मैं इन रचनाओ का पाठक हूँ, मुझे जो लगे, उसे कहना चाहिए। उचित लगे तो रचनाकार अपने पहले पाठक की इस धारणा पर विचार करे।

अपनी बात स्पष्ट करू—लय से मेरा अथ छद से नही है। छदीय कविता मे भी लय का निर्वाह नही हो पाता। फिर इस किताब म तो छद के शरीर वाली कविता ही नही है। सीधी सी बात है– लय के बारे मे मैं छद से हटकर निवदन करना चाहता हूँ–वह यह कि यकमा शरीर वाले शब्दों के बीच कोई 'परदेशिया' शब्द आ धँसता है तब कविता की भाषा की लय के साथ कविता के अथ की लय भी टूटी सी लगती है। यह 'परदेशी' शब्द होता तो अपने ही व्यापक परिवेश का–पर जिस जमीन-प्यार का हम जी रहे होते हैं उसका नही होता हमे अपना होता बनाए रखने वाली व्यवस्था के किसी अग का होता है। इस सोच के साथ यह भी कहना चाहता हूँ कि इन रचनाओ मे ओमजी मात्र शाब्दिक कारीगरी से बच [illegible] रहे हैं। [illegible] है, मेरे इन शब्दो को ओमजी का व्यक्ति और उनका [illegible] [illegible] की सीमा मे लेंगे।

23 अप्रैल 19[illegible]
छबीली घाटी [illegible]

सिलसिला

धूप क्यों कैड़ती है

मैं देशद्रोही नहीं हू

मैं मानता हू
मै स्वतन्त्र भारत की देह पर फोडा हू,
लेकिन म अजेय नहीं हू ।
बस अपने भीतर दद रखता हू,
इसीलिए अछूत हू,
दोषी हू ।
मैं अक्षम नहीं हू,
भूखा हू ।
भले ही आपने मुझ पर–
'गरीबी की रेखा' पटक कर,
छुपान का असफल प्रयास किया है ।
फिर भी मैं
तुम्हारे लिए भय हू,
कि, कोई दवा पडा है ।
सामने न सही
अपने ही मस्तिष्क मे,
मुझ से हाथ मिलाते हो तुम ।

मैं देशद्रोही नही हू ,
भले ही मैं,
राष्ट्रीय ध्वज पहन लेता हू ।
क्यो कि, मैं नगा हू ।

मैं देशद्रोही नहीं हू ,
चाहे मैं–
राष्ट्रीय गीत पर खडा नही होता,
क्यो कि, मैं
फावडा थामे कढाई पर भुका हू,
और पीठ पर समय
भूख के चाबुक लिए खडा है ।

मैं बे-बस हू ।
तभी तो–
मैं अपना श्रम बेचता हू ।
में अपने ही शोषण मे मस्त हू ।
म न्याय क्या मागू ?
न्याय सविधान मे छुपा है ।
मेरी पीठ कमजोर है ।
सविधान को ढो कर
अपने गाव नही ला सकता ।

मैं निराशावादी हू ।
तभी तो–
मैंनें अपनी अगुली,
तुम्हारे मुह मे दे रखी है,
खून चूसने के लिए ।

मैं इसान नही हू ,
वोट हू ।
तभी तो–
आश्वासनो पर लुढकता हू ।
पेटी मे बद हो,
पाच साल तक—
शात पडा रहता हू ।

मै मा हू ।
तभी तो सह लेता हू,
जमाने भर के कष्ट
तुम्हारी खुशी के लिए ।

आ, ऋतुराज !

पेडो की नगी टहनिया देख,
तू क्यो लाया
हरित पल्लव
वासती परिधान ?

अपने कुल,
अपने वर्ग का मोह त्याग,
आ, ऋतुराज !
विदाउट ड्रेस
मुर्गा बने
पीरिये के रामले को
सजा मुक्त कर दे ।
पहिना दे भले ही
परित्यक्त
पतझडिया
वासो परिधान ।

पर चाहता हू ,
थोडा ही सही
आ, ऋतुराज
खाली होने के कारण,
आगे झुकते
नत्थू के पेट मे कुछ भर दे ।
भर दे भले ही,
रात के सन्नाटे मे
पत्थर का परोसा ।

रक्षा की ।
लेकिन जब पौधा फल लाया ,
पानी नहीं,
खाद नहीं,
रक्षा नहीं !

एक बार फिर
मै उस पौधे के साथ
मैदान मे आ गया,
मसला गया,
कूटा-पीटा गया,
और पुन
पुरवा मे
उड़ा दिया गया ।

जब भी
उनकी आकाक्षाए,
मेरे उदर की ऊष्णता मे
नेस्तनाबूद हो गई तो–
मुझे थार की सज्ञा दे
नकार दिया गया ।

जब भी कभी मैंने
किसी के सीने से लग कर
हसना
रोना चाहा
फटे कपडे की तरह,
झटक कर झाड दिया गया ।

जब-जब भी मैं
परहिताथ पसरा हू

पत्थरो के शहर मे

वो जो दूर पहाडी पर
बडा सा मन्दिर है
उसका देवता
अपनी बेजान दृष्टि के लिए
हीरे की आखे रखता है
पत्थर के ठोस पेट के लिए
हजारो मन चढावा लेता है
फिर भी भूखा सोता है ।

चादी का छत्तर,
बिजली का पखा,
चन्दन की खडाऊ,
रत्न जडित रक्त वस्त्र,
सचिव सा पुजारी धारण कर
ऐंठा रहता है
किसी चोर द्वारा कुरेदी गई

अधर जीवन

जब भी मैं,
सोच के तालाब मे,
स्मृति का पत्थर फेंकता हू ।
लहरे खाता दु ख,
हृदय के किनारे आ लगता है,
  और में उस मे
पजो,
घुटनो,
कमर,
सीने तक उतरता चला जाता हू ।
मेरे अस्तित्व,
मेरे जीवित होने का प्रमाण,
मेरी आखे
सब लहरा मे खो जाते है ।
तब मेरा जीवट
जीव-मृत हो
जीविका के लिए जुट पडता है,

दिन भर की मेहनत के बाद पाता है,
एक अनोखी सोच का मेला !
जो अपनी नुकीली नोक के—
भय के आगे नचाता है ।
और फिर एक दिन
छोड आता है
किसी पसरे हुए
तथा,
भागते हुए लोहे के बीच ।
लेकिन, तभी समय आता है,
दात किटकिटाता ।
मुझे यह आभास तक नही रहता, कि
यह मेरा घालक है या पालक ।
दवाव मे आकर
मैं समझौता कर लेता हू ।
रात गुजर जाती है,
घर के ही पलग पर ।

सुवह—
मा,
बाप,
भाई,
बहिन,
बीवी,
पडौसी,
मित्र,
एक ही स्वर मे बोलते हैं ,
यदि बेचारा
निरुढ
निपूता होता, तो आज
कल की बात होता
लेकिन यह,

जीने की कला जान गया,
छल के बल,
उम्र काट देगा, पोच।

मेरा सोच
जीवन्मुक्त होने के लिए
छटपटाने लगता है।
और गिर पड़ती है
मेरे पैरो के बीच स्मृति।
फटक
आवाज के साथ ही,
तन्द्रा भग होती है,
तब मैं
एक ही झटके से उसे उठा कर,
आख मीच कर,
भविष्य के अध कूप मे फक देता हू।

तब मुझे सिखाता है समय,
कमर के बल चलना
आख के बल खाना
हाथ के बल बोलना
मुह से आरती गाना।
जो देता है—रोटी।

क्या एक रोटी के लिए,
आत्मा का अपराधी बनू,
आख मूद कर,
हाथ फैला कर
कूद पड़ू
इस दूसरे गर्त म ?
और इसी तरह सीख लू जीना ?

निराला के नाम

रे निराला !
क्यो तूने उस पगडडी को चुना,
जो अजगर के मुह मे खत्म होती है ?
क्यो तू ने बुना,
भविष्य का एक सुखद सपना
उस दिशाहीन समाज के लिए,
जो अपने ही स्वाथ मे घिरा
अधकूप मे गिरा जा रहा था ।
क्यो तूने अपनी उम्र के अनमोल दिन,
गूगी,
बहरी,
और अहसान फरामोश पीढी को
सवारने मे गवा दिए ?
जिसने तुझे,
रोटी और लगोटी तक के लिए
तरसा कर रख दिया ।

रे निराला !
क्यों रची कविताए,
भुस भरे दिमागों के लिए ?
वे कविताए जिनको लिखने मे तूने
आख की जोत,
अगुलियो के पोर
आखा जन्म ही गवा दिया ।
कौन सजो कर रखेगा ?
शायद, दीमक को तरस आये ।
वो भेज देगी तुम तक
तुम्हारी कृतिया ।
निश्चेत,
निश्चित,
सो मत जाना ,
बाट देखना ।
तूने शब्द-शब्द लिखा था ,
वर्ण-वर्ण सम्भाल लेना ।

पहाड बन जाए

जब भी मैं सोचता हू,
तब कई प्रश्न चिन्ह,
साक्षात मेरे चारो ओर
ताण्डवनृत्य करते है ।
और फिर मस्तिष्क मे
कई प्रश्नचिन्ह और खडे हो जाते है ।
प्रश्न मे प्रश्न,
कभी नही लडते !
एक के बाद एक
मिल कर,
मेरे मस्तिष्क को
खोखला कर डालते हैं
और फिर खुद
चैन की नीद सोते है
मेरे सामने खडे खडे ,
मुझे जगा कर ।

मैं उठना ही चाहता हू,
कि, बुत सा आता है—यथार्थ ।
धीमे-धीमे चल कर
मेरे सीने पर आकर
एक टाग के बल खडा हो जाता है ।
मैं उसे एक टक देखता हू,
मुझ से नजर मिलते ही,
वह ऐसा पिघलता है कि,
बस, दिल मे उतर जाता है
और दिल ,
उसकी चपेट मे आ पथरा जाता है
और मैं पत्थर दिल हो जाता हू ।

पत्थर दिल माने, बुत !
यदि हमे अपने शोषण के बदले,
किसी के लिए कुछ कर के
बुत बनना है
या
इस बुत परस्त दुनिया मे
मौत के बाद भी
बुत बन कर रहना है,
तो—
क्यो न हम,
वह पहाड बन जाए,
जो पत्थर बनाते हैं ?
ओढ कर बर्फ की चादर,
तन कर खडे हो जाए
शाति की एक लम्बी लकीर बन कर ,
अपने कद से बडे हो जाए ।

मेरा गाव

मेरा गाव,
बुढाया सा
रेत के धोरो मे
सोया पडा है ।

मेरा गाव,
किसी का गुलाम नही,
यहा—
मकानो का पक्तिबद्ध होना,
कत्तई अनिवाय नही है ।
सडके सिमटी है शहरो तक,
बिजली खम्भो की बजाय
आकाश माग से आती है

बस
रेल से डरते हैं

मेरे गाव के लोग ।
नेता और अफसर की
शक्ल तक नही देखी
अवसर को ही,
अफसर कहते है,
मेरे गाव के लोग ।

तमतमाती धूप,
लू,
वर्षा,
आधी,
तूफान
सभी तो होते है
मेरे गाव मे ।
वस,
कूलर,
फ्रिज,
टाटे,
टीवी
नही होते,
मेरे गाव मे

जनहितैषी,
जनसेवी,
देशभक्त
सभी होते हैं
वस,
सफेद पोश
नही होते
मेरे गाव मे ।

मेरा शहर

अंधेरी रात
और
अंगारा सा दिन
ढोता है,
मेरा शहर।

भूख का भाई
और
भूखे का दुश्मन है,
मेरा शहर

तड़पता है,
तड़पाता है,
न भूखा है,
न खाता है,

बस,
रात भर जग कर
सुबह सो जाता है
मेरा शहर

दिन भर दफ्तर में
घिघियाता है
और शाम को
मजदूर के अंगूठे पर
स्याही बन कर चिपक जाता है,
मेरा शहर।

धर्म
ईमान
देश की कसम खाता है
लेकिन
मुर्गे की टांग पर
बिक जाता है,
मेरा शहर।

महिला कल्याण केन्द्र के—
चंदे की रसीद बुक लिए
दिन भर भटकता हुआ
रात को,
किसी कोठे पर पड़ा मिल जाता है,
मेरा शहर।

कभी का
दहेज विरोधी
आन्दोलन चलाता है
दान

बिन दहेज की दुल्हन को
घर की चौखट पर ही
लील जाता है
मेरा शहर।

न्याय के कटघरे मे
गीता पर हाथ धर हकलाता है
लेकिन
स्कॉच पी कर,
हर गुत्थी खोल जाता है
मेरा शहर।

भविष्य

दूर
बंजर रेगिस्तान में खड़ा
बिना पत्तों का पेड़
बांह से सूखी टहनियाँ
आसमान में खड़ी गई
गुम-सुम कर
झरी पत्तियाँ,
अस्तित्व का आभास,
सूखी पत्तियों की खड़खड़ाहट
अतीत और असमंजस के अंधकार में
भाग्य का भाग
अनाम अनुमान।

अस्तित्व का स्वाद

प्याज के छिलको की तरह
जीवन के दिन,
उतरते उतरते
चले गये,
और मै
भीतर की
अंतिम पर्त मात्र रह गया हू
फिर भी लोग,
न जाने क्यू मुझे
अपनी आहार सामग्री मे रखते हैं।
समय,
असमय
सुबह
और शाम
मेरे अस्तित्व का
स्वाद चखते हैं।

अस्तित्व का अहसास

तुम
खींच कर मार जाते हो
आईना-ए-दिल पर पत्थर
और पलट कर
उसके टूटने की
आवाज तक नहीं सुनते ।
क्यों कि, तुम्हें
मेरी नपुंसकता का
अहसास हो गया है ।

तुम
मेरे बाजार,
मेरी इज्जत के बदले
अपने लिए
इज्जत खरीद लेते हो ।
और मैं

कुए से निकली डोलची की तरह
छपाक से खाली हो
दूसरी छलाग के लिए
हर पल तैयार रहता हू,
क्यो कि मुझे
मेरी नपुसकता का अहसास हो गया है ।

एक अबला की तरह
मेरी कविता
मेरे वास्ते
दो जून रोटी के लिए
तुम्हारे आगे पसर जाती है
और तुम उसे
पृष्ठ-दर-पृष्ठ
कुतरते जाते हो,
ऐसी फसाते हो
एक कॉलम के चौथे हिस्से मे
कि, वह तुम्हारी
बस, तुम्हारी हो कर रह जाती है ।
उसे भी
मेरी होने का अहसास नही होता
क्यो कि, उसे भी—
मेरी नपुसकता का अहसास हो गया है ।

मैं सूरज पचा लेता हूं

मैं
हथेली में हर दिन
सूरज सहेज कर रखता था।
जब भी कभी मुझे
तपिश का अहसास हुआ
या
जमाने का लगा
कि, मैं
सृष्टि की अमूल्य निधि का
अकेला [illegible] कर रहा हूं।
मैं हर बार
उसकी आग ताप सदा
[illegible],
[illegible]
[illegible] दिया।
[illegible] हुआ
[illegible]

जमाना भक्ति पर
लेकिन सूरज ।
सूरज, आज भी टपकता है
मेरी आख से
आसू बन कर ।

अब तो
गुण-सूत्रो तक मे
ढल गया है सूरज,
तभी तो
मै देखता हू
कि, मेरी हर रचना,
पेट मे
सूरज ले कर जन्मती है ।

मैं
सूरज पचा लेता हू ।
इसी लिए हर रात
एक नया सूरज
अपने सीने पर रख कर सोता हू ।
बस, यही कारण है,
मेरा हर मित्र
नातेदार
सहकर्मी
सूरज लिए खडा है
मेरी हथेली पर
रख देने
और मैं ।
इन असख्य सूर्यों के बीच,
एक उपग्रह सा
ठहरा हुआ हू,

परिक्रमण
परिभ्रमण को।
हर सूरज के
परिश्रमण
परिभमण
पथ पर
तपिश-दर-तपिश
सहने को।

सभ्यता

सभ्य पद चापो से
जरा हट कर
सडक के किनारे
किसी गदे नाले मे
अपना ही चेहरा देख कर,
कितने असभ्य हो जाते है हम ।
अपने ही चेहरे पर
पेशाब कर
अपना ही अक्स मिटा डालते है ।
अहकार की डकार ले
उल्टे पाव
जेब मे हाथ डाल
पुन
सभ्य पद चापो मे,
अपनी पदध्वनि
मिला कर हसते है
अपने हम सफर की—

आख मे लगे कीचड को देख कर ।
और कितनी शान से
मिलाते हैं हम
'वे हाथ'
मूछो पर ताव देकर
अपने राह चलते अजीज से ।

धूप क्यो छेडती है

उन
कई-कई
मजिलो ऊँची
कोठियो मे सोये
अमीरो को छोड कर
धरातल पर
गढ्ढो मे सोये मुझ को
धूप क्यो छेडती है ?
गहरी नीद सोने से पहले
क्यो जगा देती है ?

भूख !
उन अमीरो के
भर पेट खा कर
मखमल पर सोये
साहबजादो के पेट को छोड कर

मेरे नत्थू के पेट मे आ कर
क्यो सो जाती है ?
क्यो कुदाल, फावडा और गेंती
मेरे अवयस्क नत्थू के हाथो मे
आ थम जाते है ?
उनकी गोरी चमडी के
आवरण वाली हथेलिया
पोरो मे सिगरेट व जाम
क्यो थाम लेती हैं ?

क्यो उनकी मोटी तिजोरियो मे
घर बैठे ही
धन सग्रहित हो जाता है ?
मेरी फटी सी धोती की
छोटी सी अटी
खाली क्यो रह जाती है ?
क्या धूप
छप्पर फाड कर 'लेना'
और
फाटक बन्द कर 'देना' चाहती है ?

दोहरी चाल प्रकृति की

मेरा और उनका घर
आमने सामने है ।
उनके यहा पैदा होने वाला
अमीर कहलवा लेता है
लेकिन
मेरे यहा तो
फिर से 'मैं' ही पैदा होता हू,
कोई बिडला
क्यो नही पैदा होता है ?

उनके सुपुत्र
जवानी से पहले ही
ऐय्याश हो लेते है
कारो मे घूम कर
मखमल पर सो लेते हैं ।
मेरा धनिया

दिन भर की मेहनत के बाद भी
भूखा क्यो सो जाता है ?
घनराज से हो लेता है घनिया
और वो क्यो
एक साथ
आगे पीछे
दो-दो अलकार पा लेते है ?

उनका कुत्ता
जिसे सूघ कर छोड देता है,
मेरा घनिया
उसी को हस कर
क्यो खा लेता है ?
क्यो ? आखिर क्यो ?

क्यो ?
काटो मे गुलाब,
गुलाब मे काटे लगते हैं ।
यह क्या झूठ है ?
यदि नही, तो
प्रकृति दोहरी चाल—
क्यो चल लेती है ?
गुलाब पर गुलाब
काटे पर काटा
क्यो नही जड देती ?
उसकी सभी रचनाए
समान हो लेती ।
मेरा घनराज हो जाता घनिया,
उनका घनराज
'श्री' और 'जी' द्वारा
सरक्षित हो जाता, तो—
मुझे दु ख न होता ।

लावा

यथाथ की कोठरी मे
समय की मुह् पट्टियो से बधी
मेरी लेखनी,
असहाय हो
वयस्क होने से पहले ही
घुट कर रह गई ।
महगाई के स्याहीसोखो ने
मेरी कलम की स्याही सोख ली ।
समाज का कागज
पहले ही से काला हो चुका है,
मेरे नाम के भोडे प्रतीको की काली स्याही से ।
पिन दद बन कर
मुझे ही चुभन देती है ,
रिश्तो के दबाव मे आकर ।
मेरी अगुलिया,
मात्र रुमाल बन कर
जेब मे पडी रहती हैं ।

लावा भरा पडा है मेरे भीतर।
किसी को क्यू भेंट करू ?
जब प्रकृति ने इस हेतु,
मुझे ही चुना है।

भले ही किसी के शब्दो मे
मुझे मेरा गाव
रास न आया हो।
परन्तु मैं जानता हू,
मेरा साहित्य
भूत बन कर
मेरा आरोह कर चुका है।

मैं असहाय व चुप जरूर हू
लेकिन
मैं भी हाथो मे अगुलिया,
मन मे आकाक्षा रखता हू।
एक दिन उगल दूगा कागज पर
अगुलियो के पोरो से,
दिल मे भरा सवेदन
दद से धोकर।

में जानता हू
मैं फटा हुआ ढोल हू
लेकिन
हू तो ढोल ?
यह तो आप भी जानते हं,
कभी मैं भी बजता था,
फिर बजूगा एक बार में
अथ का मढना मढवा कर।

मेरा आगन

सडक
दहलीज पर आ कर चली गई,
दहलीज मे अटका रह गया
मेरा आगन ।
सडक शहर घूम आई ।
दिन की चका-चौंध मे
परछाइयो को ले
आगे पीछे होता रहा
मेरा घर ।
परछाइयो को अधेरे ,
अधेरो को आगन पी गया ।

सडक
दहलीज पर आ कर चली गई,
दहलीज मे अटका रह गया
मेरा आगन ।

सडक शहर घूम आई ।

बे-रोजगारी से
बा-रोजगार हो गये है लोग ।
आरक्षण का भक्षण कर
सरकारी सरक्षण पा गये हैं लोग ।
लेकिन
आलपिनो मे अटका रह गया
मेरा आगन ।
सडक शहर घूम आई ।

झोपडियो से उठ
निरीक्षण
सर्वेक्षण
बाढग्रस्त क्षेत्रो का दौरा कर
सफेद कुर्तों की झोली मे
मिट्टी को कुन्दन बना लाए हैं लोग
लेकिन
दो जून रोटी मे अटका रह गया
मेरा आगन ।
सडक दहलीज पर आ कर चली गई
दहलीज मे अटका रह गया
मेरा आगन ।
सडक शहर घूम आई ।

पूरा मुह सिलवाया है

बहुत तपे है हम
तप कर
कुदन तो न बने
पात बन गये ,
एक जात थे,
कई जात बन गये ।

हमने हाथो को
मिलाया नही—
उठाया है ,
इसीलिए
खजर का स्पश
कही पास ही पाया है ।
लेकिन
बेगानो की—
दुश्मनी से बचे है ,

अपनो ही से काम चलाया है ।
भले ही सरकारी हाथ,
जेबो मे पडे है ,
पडोस ही मे
एक नया
समानातर
देश बनाया है ।

तब से अब तक
फालतू चीजो को ही बेचा है,
जुबान की तो औकात ही क्या थी,
आत्मा तक को नही बख्शा हमने ।

कानो को—
आहट के लिए
इन्कलाब के फाटक पर छोड,
पूरा मुह सिलवाया है हमने ।

स्मृतिया

कुम्हार के चाक सी
घूमती जिन्दगी,
स्मृतियो के घडे
सजोती चली आ रही है।

मैं देखता हू—
सुबह को काधे पर लाद कर,
मजदूर दिन
साझ के घर छोड आता है
और सो जाता है,
गरीबी की रेखा के नीचे आ कर।
सुबह फिर उठा देती है उसे,
सुबह आकर।

मैंने देखा है—
धूप को

मजदूर की पीठ पर
श्रम बन कर नाचते ।
परछाइयो को
पीछे खीचता पारिश्रमिक,
उतारता है धूप को
मजदूर की पीठ से ।
पास ही कोनो मे
छुप कर सो जाती है धूप,
गरीब की रेखा के नीचे आकर ।
सुबह फिर उठा देती है उसे,
सुबह आकर ।

मैंने देखा है—
भूख को
मशीन मे उगलिया देते
मजदूर के पेट मे मरते ।
साझ फिर जिलाती है
चने खिला कर उसे
दोपहर के बाद ।
मिल के पीछे
ग दे क्वाटरा मे
सो जाती है भूख,
साझ,
श्रम,
मजदूर के साथ,
गरीबी की रेखा के नीचे आकर ।
सुबह फिर उठा देती हे उसे,
सुबह आकर ।

सुबह
मिल के भोपू के रोने से पहले,
सुबह फिर उठा देती है उसे,
सुबह आकर ।

दद

रोते अधेरो को
धूओ का ढाढस देना
कितना अजीब सा लगता है
परन्तु
यह सच्चाई है
कि लोहे को लोहा काटता है।

एक दिन
भीतर उतर गया मैं
अपने ही दिल से पूछने,
हाल, बेहाल थे
भीतर कुछ न था
बस, अकेला था दिल।
जी चाहा—
ले चलू बाहर उजालो मे
मगर

भय ने मना कर दिया
वरना
देख लेता वह
कि दद उसके लिए
मैं नहीं
दुनिया सजोती है ,
मैं तो माध्यम हू
बस,
भेंट करता हू ।

कविता सपनो की

वण वण सजोकर
गढी थी मैंने
अपने सपनो की कविता ।
परतु
कितनी निदयता से किया पोस्टमार्टम
कथित विशेपज्ञो ने,
पक्तिया
वाक्य
शब्द
बिखेर कर परखे गये ।
मुझे दुख न हुआ
दु ख तो तब हुआ
जब—
शब्दो का सधिविच्छेद कर
उन विशेपज्ञो ने
एक-एक वण अलग कर
पुन थमा दिए

मेरी हथेलियो मे
फिर गढने को एक कविता ।
उनको सौंपने के लिए
ताकि चलती रहे रुटीन पोस्टमार्टम को ।
उनको भी
मुझे भी,
मिलता रहे काम ।
परन्तु
काम के बदले अनाज नही,
मिलती है—
लम्बी चादर बेकारी को
ओढ कर सोने को ।
समर्पण को
बस, टूटने का
बिखरने को ।

नया कैलेण्डर

एक अदने से व्यक्तित्व का
स्वाभिमानी आदमी,
बिना पूछ के
सम्मान का अधिकारी
कदापि नही हो सकता ।
इसे यदि आप
मेरी भावुकता समझ
दो पल हस लेते है,
तो मैं समझूगा
किसी बडे आदमी का—
मनोरजन ही सही ।
वरना
दिल तो जलता है ।
दस द्वार होते हुए भी
कमबख्त,
धूआ तक नही छोडता
वरना

आपका विश्वास जुटा पाना,
कोई अतिशयोक्ति न होती ।

शाक उबल कर
पका होना ही माना जाता है,
जल जाना नहीं ।

दिल सीने के भीतर रख कर
उसने गलती की है ।
यदि यही सीने के ऊपर—
टाग दिया होता
तो कुर्ते के आवरण को हटाने मे
शायद, अधिक समय न लगता ,
जले शाक का—
छिलका उतारने की आदत तो बचपन से है ,
दिल का जला आवरण
उतार कर दिखाने मे
मैं शर्म न करता ।
यदि ऐसा करना उसके लिए—
सम्भव न था, तो कम से कम इसे
स्पज ही बना देता ।
छुट्टी के दिन,
घर के किसी कोने मे
एकान्त पा कर
दर्द निचोड कर,
पुन
नये कैलेण्डर की तरह
टाग देता
अपने पजराये सीने मे
दिल को ।

एक सवाल

खला मे बैठकर
समीकरण
हल करने से
सडक पर भीख मागने वाले
अल्लादित्ता का
एक रोटी का सवाल
भला कैसे हल होगा ?
खोज सको
अपनी अतरिक्ष यात्रा मे इसका हल
तो हाक मार देना
तल से चिपकी
सरकडिया झोपडी मे
एक रोटी पर
आखें फैला
दस परिजनो का
गुणा-भाग करती भजनी को
निश्चित करने ।

ऐसा क्यो

क्यो सजाए हो
सिंधुघाटी के उस एक मात्र
आलिंगनबद्ध जोडे के कंकाल को
कटीले तारो के बीच।
आओ, खींच दो
प्रत्येक शहर के चारो ओर
कटीले तार
लम्बी
ऊंची दीवारें
क्यो कि, तुम्हे मिलेगा यहा
अदर से साकल चढे
प्रत्येक बन्द कमरे मे
भूख की
बेहोशी की मौत मरा
आलिंगनबद्ध
हर एक नर-मादा का जोडा।

तुम उधर कतई नही देखोगे
मुझे पता है,
तुम्ह वतमान को भूल
भूत को ढोने
भविष्य को रोने की
आदत पड गई है ।
तभी तो तुम्ह
आज विश्व मानचित्र पर
रोटी मागते हाथ, कहा दिखते है ?
कहा दिखती है
हिरोसिमा
नागासाकी
भोपाल गैस त्रासदी ?

तुम्हे चिन्ता है
स्टारवार
रोबोट युग की ।
और चिंता है।
सिंधु घाटी के अवशेषो की
समुद्र मे डूबी द्वारका
राम की अयोध्या
रावण की सोने की लका की ।

तुम्हे कहा चिता है
समय से कटते
इन चाम चढे
जिन्दा नर ककालो की ?
तुम तो बस, लीन हो
अपने वतमान की
मुर्दा लाश को सजाने मे ।

सस्कृति का खून
तुम्हारे मुह लग चुका है
चटखारे ले-ले कर
हाड तक चट कर सकते हो ।
लेकिन नही, हाड नही !
नर ककाल तो
विदेशी मुद्रा जुटाने का
साधन है तुम्हारा,
हाड भला क्यो चट करोगे ?

तुम स्वाथ पूर्ति के लिए
ठोर तलाशते हो
व्यक्तिगत लाभाथ
सूघते—चाटते हो
वरना उस पर
एक टाग उठा
मूत करने मे
कहा चूकते हो ?

जिन्दगी

ज़िन्दगी क्या है ?
जब-जब भी सोचा
हर बार
मुह लगता सा उतर पाया ।

मैंने पाया,
मा की गोद मे
रोते बच्चे के
आगे पडी
दूध की
खाली बोतल है—जिन्दगी ।

रोजगार की तलाश मे
रेल के नीचे
कटी पडी

युवा लाश की
भूखी मा का प्रलाप है—ज़िन्दगी ।

अस्पताल मे
दवा के अभाव मे
बे-औलाद भीखू के लिय
मौत का अधिकार है—जि दगी ।

भ्रष्टाचार
मुनाफाखोरी
बे-ईमानी
नेता गिरी के लिए पुरस्कार
और अधिकारा की माग के लिए
खाडे की धार है—जि दगी ।

सब कुछ
देखती
सुनती
जमाने के दद
अपने मे
सजोती
सहती
लेकिन फिर भी
भाव चेहरे पर रखती
आज का
ताज़ा अखबार है—जि दगी ।

धर्मनिर्पेक्ष लोकतंत्र

स्वघोषित उद्देश्यो को
प्रतीक मान
मन चाहे कपडो से निर्मित ध्वज
दूर आसमान की ऊचाईयो मे—
फहराने भर से
लोकतन्त्र की जडे
भला कैसे हरी रहेगी ?

तुम शायद नही जानते
भरे बादल को
पेट का प्रतीक मान लेने से
यह पच भूता नही मानता
पानी के समय पानी
रोटी के समय रोटी
साक्षात मागता है ।

शाति का प्रतीक
टुकडा भर सफेद कपडा
वरसो बाद भी
मुट्ठी भर देश को
चैन-ओ-अमन
कहा दे पाया है ?

हरित क्राति का प्रतीक
तुम्हारा हरा रग
आयात से चलकर
निर्यात तक
कहा पहुच पाया है ?
और अडतीस साल वाद भी
तुम्हारी राष्ट्रीयता को
निष्ठा
और
बहादुरी के रग मे
कहा रग पाया है ?
हा, यह जरूर है
तुम्हारा केसरिया
रग लाया है
तभी तो
हर देशवासी
बे-ईमानी
भ्रष्टाचार
भुखमरी
गरीबी
बे-रोजगारी
और
देशद्रोह के रग मे
आकठ रग गया है
और इनके समक्ष

आतरिक अकुलाहट

परिवार नियोजन का पट्ट
आपने टागा है
उस गरीब की झोपडी पर ।
'दो या तीन' का नारा
जुबान पर उसकी
सुराख निकाल कर टाग दिया है ।

बच्चो की लम्बी भीड देख कर
तुम हसे जरूर हो ।
क्या कभी इसकी वजह पूछी है,
उस बिना छत की—
झोपडी मे रहने वाले सरजू से ?

मैंने पूछा है !
तमतमाती धूप मे
बोझा ढोने वाले उस ताड से ।
वह बोला था ,

बन्द तो करना ही होता है।
वो, जो रंगीन भीड़ है,
उसको—
गरीब बच्चे का रोना
कष्ट देता है।
बस,
उनका गाल रंगना पड़ता है।
ऐसे में हाथ ऐंठ ही जाता है।
यदि सीतू का बाप,
अपनी पीठ के बल निकालता है,
तो मैं भी अपने हाथों की ऐंठन
उसके पिंजराये सीने के इर्द-गिर्द
अपनी बाहें लपेट कर—
निकाल लेती हूं।
क्या दोष है मेरा ?

कल तक मैं बच्ची थी,
साड़ी बांधना सीखी ही थी
कि, सीतू आ गया,
सीतू आया नहीं
कि चम्पेली आ गई।
अब एक और मेरे पेट की भूख में
तप रहा है
बाहर आने को।
सा'ब !
ये 'दो या तीन' का पट्ट
हमें दे दो ?
खुली छत है,
ढप जायेगी,
इस बार—
सर्दी बे-औलाद चली जायेगी।

कुछ तो बोली थी
चमेली की पडोसिन झुनिया।
सा'ब!
मैंने परिवार नियोजित करने की सोच
कॉपर-टी लगवाई थी।
ये विजिया कमबख्त
जन्म से पहले की भूखी थी
गर्भाशय मे घुसते ही,
कॉपर-टी खा गई।
तभी तो—
कॉपर-टी सी बाहर आ गई
ना मुराद अभी भी भूखी है।
गली की आवारा कुतिया के—
स्तन काटती है।
सामने वाले सा'ब की कोठी पर,
जूठे बर्तन चाटती है
और
डाट खा कर,
दोपहर उनके ही फर्श पर [illegible] है।
कमबख्त,
रात भर मेरे खाली पेट पर,
लातें मार कर
बुटाये नन्हे हाथों मे
मेरे स्तन टटोलती है।
आवारों की [illegible]—
मुझे छोड
सुबह,
कुतिया के [illegible] है।
मेरे [illegible],
एक [illegible]
इस [illegible] है।
कमबख्त, [illegible] है

प्यार,
दुलार,
ममता
और
मेरा अक्स तलाशती है।
मुझे दुत्कार,
उसे पुचकारती है।

सा'ब
मुझे रोटी नही
मेरी ममता को
ममत्व का अधिकार दे दो!
रिक्त आखो को दे दो
किन्ही ऐसे क्षणो के लिए
वात्सलय के दो आसू!!



ओम पुरोहित "कागद"

- ☐ ज म– 5 जुलाई 1957, केसरीसिंहपुर
  जिला– श्रीगगानगर (राज)
- ☐ शिक्षा– स्नातकोत्तर (इतिहास)
  विशारद (राजस्थानी)
- ☐ साहित्यिक उपलब्धि– सवप्रथम 1971 म दनिक पजाब केसरी जालधर मे कविता प्रकाशित। तब स अब तक दश की विभिन्न पत्र पत्रिकाओ म कविताए, कहानिया, "यग्य रिपोर्ताज, सस्मरण एवम् विचारो त्तजक निब ध, हि दी व राजस्थानी भापा म समान रूप स प्रकाशित एव आकाशवाणी से प्रसारित।
- ☐ मरुधरा, पडाव, कारवा प्रयासिका, साहित्य प्रसव मरुगगा, माणक कदम, लहर व प्रयास आदि मे रचनाए सकलित। मरुधरा साहित्य परिषद्, हनुमान गढ सगम के बहुचर्चित कविता एवम् लघुकथा सकलन 'मरुधरा का सम्पादन। साप्ताहिक शाश्वत सत्य (श्री गगानगर) का दो वप तक साहित्य सम्पादन। 1978 से 1985 के मध्य तक 'राजस्थान पत्रिका' (जयपुर) के लिए सवाद सकलन।
- ☐ अप्रकाशित कृतिया– कागद, पचमेळ (राजस्थानी कविता) जिजीविपा (हि दी कहानी सग्रह) व एक उप यास।
- ☐ 'नौवें दशक की श्रेष्ठ कहानिया" शीघ्र प्रकाश्य सम्पादित कहानी सग्रह।
- ☐ सप्रति– शिक्षा विभाग राजस्थान म अध्यापन।
- ☐ स्थाई पता– 24 दुर्गा कॉलोनी हनुमानगढ सगम पिन 335512 (राजस्थान)